७

विद्यार्थी-जीवन : एक नव-अंकुर

विद्यार्थी-जीवन एक बहुत ही विस्तृत एवं व्यापक जीवन का पर्याय है। इसकी कोई सीमाएँ-परिसीमाएँ नहीं हैं। जिज्ञासु-मानव, जीवन के जिस अंतराल में जीवन की तैयारी की शिक्षा—अध्ययन, मनन, चिंतन एवं अपनी अनुभूतियों द्वारा—ग्रहण करता है, हम इसे ही विद्यार्थी का जीवन किंवा छात्र-जीवन कहते हैं। सिद्धान्त की बात यह है कि छात्र-जीवन का सम्बन्ध किसी आयु-विशेष के साथ नहीं है। यह भी नहीं है कि जो किसी पाठ-शाला—विद्यालय या महाविद्यालय में नियमित रूप से पढ़ते हैं, वे ही छात्र कहलाएँ। मैं समझता हूँ कि जिसमें जिज्ञासा वृत्ति अंतर्हित है, जिसे कुछ भी नूतन ज्ञान अर्जित करने की इच्छा है, वह मनुष्यमात्र विद्यार्थी है, चाहे वह किसी भी आयु का हो अथवा किसी भी परिस्थिति में रहता हो। और यह जिज्ञासा की वृत्ति किसमें नहीं होती ? जिसमें चेतना है, जीवन है, उसमें जिज्ञासा अवश्य ही होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य, जन्म से लेकर मृत्यु की अन्तिम घड़ी तक, विद्यार्थी ही बना रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो बड़े-बूढ़े हैं, जिन्होंने अपने जीवन में सत्य का प्रकाश प्राप्त कर लिया है और जिनकी चेतना पूर्णता पर पहुँच चुकी है, आगम की वाणी में जिन्होंने सर्वज्ञता पा ली है, वे विद्यार्थी न रह कर विद्याधिपति हो जाते हैं। उन्हें आगम में 'स्नातक' कहते हैं। और, जो अभी तक शास्त्रोक्त इस स्नातक-अवस्था की पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाए हैं, भले ही वे किसी विश्वविद्यालय के स्नातक ही क्यों न हो चुके हों, वास्तव में विद्यार्थी ही हैं। इस दृष्टि से मनुष्यमात्र विद्यार्थी है। और उसे विद्यार्थी बनकर ही रहना चाहिए। इसी में उसके जीवन का सही विकास निहित है।

मनुष्य मात्र ही विद्यार्थी :

अपने जीवन में मनुष्य विद्यार्थी ही है और साथ ही मनुष्य मात्र ही विद्यार्थी है। आप जानते हैं कि पाठशालाएँ नरक और स्वर्ग में नहीं हैं। और, पशुयोनि में हजारों-लाखों जातियाँ होने पर भी उनके लिए कोई स्कूल नहीं खोले गए हैं। आमतौर पर पशुओं में तत्त्व के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं होती और न ही जीवन को समझने की कोई लगन देखी जाती है। तो एक तरफ सारा संसार है और दूसरी तरफ अकेला मनुष्य है। जब हम इस विराट् संसार की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो उसके विकास पर सब जगह मनुष्य की छाप लगी हुई स्पष्ट दिखाई देती है और जान पड़ता है कि एकमात्र मनुष्य ने ही संसार को यह विराटता प्रदान की है।

संसार की विराटता और जिज्ञासा :

मनुष्य ने संसार को जो विराट् रूप प्रदान किया, उसके मूल में उसकी जिज्ञासा ही प्रधान रही है। ऐसी प्रबल जिज्ञासा मनुष्य में ही पाई जाती है, अतएव विद्यार्थी का पद भी मनुष्य को ही मिला है। देवता भले कितनी ही ऊँचाई पर क्यों न रहते हों, उनको भी विद्यार्थी का महिमावान पद प्राप्त नहीं है। यह तो मनुष्य ही है, जो विचार का प्रकाश लेने को आगे बढ़ा है और जो अपने मस्तिष्क के दरवाजे खोलकर सब ओर प्रकाश लेने और देने के लिए आगे आया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य, एक विराट् शक्ति केन्द्र है। वह केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र नहीं है, जो सिर को ऊपर उठाए दो पैरों के बल पर खड़ा होनेवाला कोई बानर हो। वह केवल शारीरिक ऊँचाई ही नहीं रखता, उसकी मानसिक उच्चता भी महान् है, जो उसे प्राणि-जगत् में श्रेष्ठता प्रदान करती है।

मानव की विकास-कालीन बाह्य परिस्थितियाँ :

आप देखें और सोचें, कर्मभूमि के प्रारम्भ में, जब मनुष्य-जाति का विकास प्रारम्भ हुआ था, तब मनुष्य को क्या प्राप्त था? भगवान् ऋषभदेव के समय से पूर्व उसको केवल बड़े-बड़े पर्वत, मैदान, लम्बी-चौड़ी पृथ्वी, जंगल और नदी-नाले ही तो मिले थे। मकान के नाम पर एक झोंपड़ी भी नहीं थी और न वस्त्र के नाम पर एक धागा ही था। रोटी पकाने के लिए न अन्न का एक दाना था, न बर्तन थे, न चूल्हा था, न चक्की थी। कुछ भी तो नहीं था। मतलब यह कि एक ओर मनुष्य खड़ा था और दूसरी ओर थी प्रकृति, जो मौन और चुप थी। पृथ्वी और आकाश, दोनों मौन थे।

उसके बाद भगवान् ऋषभदेव के नेतृत्व में मानव की विकास-यात्रा शुरू हुई, तो एक विराट् संसार खड़ा हुआ और नगर बस गए। मनुष्य ने प्रकृति पर नियन्त्रण कायम किया और उत्पादन की ओर गति की। फलतः मनुष्य ने स्वयं खाया और सारे जग को खिलाया। स्वयं का तन ढंकने के साथ, दूसरों के तन भी ढांके। और उसने केवल इसी दुनिया की ही तैयारी नहीं की, प्रत्युत उसके आगे का भी मार्ग तय किया। अनन्त-अनन्त भूत और भविष्य की बातें प्रकाशमान हो गई और विश्व का विराट् चिन्तन हमारे सामने प्रस्तुत हो गया।

वह समय युगलियों का था। वह ऐसा काल था, जब मनुष्य पृथ्वी पर पशुओं की भाँति घूम रहा था। उसके मन में इस दुनिया को तथा अगली दुनिया को समझने तक का कोई प्रश्न न था। फिर यह सब कहाँ से आ गया? स्पष्ट है, इसके मूल में मनुष्य की प्रगतिशील भावना ही काम कर रही थी। उसने युगों से प्रकृति के साथ संघर्ष किया और एक दिन उसने प्रकृति और पृथ्वी पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया, एक नई सृष्टि बना कर खड़ी कर दी।

मनुष्य को बाहर की प्रकृति से ही नहीं, अन्दर की प्रकृति से भी लड़ना पड़ा अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि की अपनी वासनाओं से भी खूब लड़ना पड़ा। उसने अपने हृदय को खोल कर देख लिया और समझ लिया कि यहाँ कौन-सा हमारे कल्याण का मार्ग है और कौन-सा अकल्याण का। हमारे व्यक्तिगत जीवन में तथा राष्ट्र के जीवन में क्या उपयोगी है, और क्या अनुपयोगी?

मनुष्य ने एक तरफ प्रकृति का विश्लेषण किया और दूसरी तरफ अपने अन्दर के जीवन का विश्लेषण किया कि हमारे भीतर कहाँ नरक बन रहे हैं और कहाँ स्वर्ग बन रहे हैं? कहाँ बन्धन खुल रहे हैं और कहाँ बँध रहे हैं? हम किस रूप में संसार में आए हैं, और अब हमें लौटना किस रूप में है?

मानव-मस्तिष्क : ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र :

इस प्रकार बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का जो चिन्तन मनुष्य के पास आया, वह सब मनुष्य के मस्तिष्क से ही आया है, मनुष्य के मस्तिष्क से ही ज्ञान की सारी धाराएँ फूटी हैं। यह अलंकार, काव्य, दर्शनशास्त्र और व्याकरण-शास्त्र प्रभृति नाना विषय मानव-मस्तिष्क से ही निकले हैं। आज हम ज्ञान और विज्ञान का जो भी विकास देखते हैं, सभी कुछ मनुष्य के मस्तिष्क की ही देन है। मनुष्य अपने मस्तिष्क पर भी विचार करता है तथा वह यह सोचता और मार्ग खोलता है कि अपने इस प्राप्त मानव-जीवन का उपयोग क्या है? इसको विश्व से कितना कुछ पाना है और विश्व को कितना कुछ देना है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपनी अविराम जिज्ञासा की प्रेरणा से ही विश्व को यह रूप प्रदान किया है। वह निरन्तर बढ़ता जा रहा है और विश्व को निरन्तर अभिनव स्वरूप प्रदान करता जा रहा है। परन्तु यह सब संभव तभी हुआ, जबकि वह प्रकृति की पाठशाला में एक विनम्र विद्यार्थी होकर प्रविष्ट हुआ। इस रूप में मनुष्य अनादि काल से विद्यार्थी रहा है और जब तक विद्यार्थी रहेगा उसका विकास बराबर होता रहेगा।

अक्षर-ज्ञान ही शिक्षा नहीं :

अक्षरों की शिक्षा ही सब-कुछ नहीं है। कोरी अक्षर-शिक्षा में जीवन का विकास नहीं हो सकता। जब तक अपने और दूसरे के जीवन का ठीक अध्ययन नहीं है, व्यापक बुद्धि नहीं है, समाज और राष्ट्र की गुत्थियों को सुलझाने की और अमीरी तथा गरीबी के प्रश्नों को हल करने की क्षमता नहीं आती है, तब तक शिक्षा की कोई उपयोगिता नहीं है। केवल पुस्तकें पढ़ लेने का अर्थ शिक्षित हो जाना नहीं है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है—

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः"

अर्थात् बड़े-बड़े पोथे पढ़ने वाले भी मूर्ख होते हैं। जिसने शास्त्र तोते की तरह रट कर मात्र कंठस्थ कर लिए हैं, किन्तु अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन को ऊँचा उठाने की बुद्धि नहीं पाई है, उसके शास्त्र-पठनन का कोई मूल्य एवं अर्थ नहीं है। इस तरह के शुक-अध्ययन के सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु ने ठीक ही कहा है—"गधे की पीठ पर चन्दन की बोरियाँ भर-भर कर लाद दी गईं, काफी वजन लद गया, फिर भी उस गधे के भाग्य में क्या है? जो बोरियाँ लद रही हैं, वे उसके लिए क्या हैं? उसकी तकदीर में तो बोझ ढोना ही बदा है। उसके ऊपर चाहे लकड़ियाँ लाद दी जाएँ या चन्दन, हीरे और जवाहरात लाद दिए जाएँ, या मिट्टी-पत्थर, वह तो सिर्फ वजन ही महसूस करेगा। चन्दन की सुगन्ध का महत्त्व और मूल्य आंक पाना उसके भाग्य में नहीं है।"[1]

विद्या का वास्तविक अर्थ :

कुछ लोग शास्त्रों को और विद्याओं को, चाहे वह इस लोक-सम्बन्धी हों या परलोक सम्बन्धी, भौतिक विद्याएँ हों या आध्यात्मिक विद्याएँ, सबको अपने मस्तक पर लादे चले जा रहे हैं, किन्तु वस्तुतः ये केवल उस गधे की तरह ही मात्र भार ढोने वाले हैं। वे दुनिया भर की दार्शनिकता बघार देंगे, व्याकरण की गूढ़ फक्किकाएँ रट कर शास्त्रार्थ कर लेंगे, परन्तु उससे होना क्या है? क्रियाहीन कोरे ज्ञान की क्या कीमत है? वह ज्ञान ही क्या, वह विद्या ही कैसी, जो आचरण का रूप न लेती हो? जो जीवन की बेड़ियाँ न तोड़ सकती हो, ऐसी विद्या बन्ध्या है, ऐसा ज्ञान निष्फल है। ऐसी शिक्षा तोतारटंत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए ठीक ही कहा है—

"सा विद्या या विमुक्तये।"

अर्थात् विद्या वही है, जो हमें विकारों से मुक्ति दिलाने वाली हो, हमें स्वतन्त्र करने वाली हो, हमारे बन्धनों को तोड़ने वाली हो।

मुक्ति का अर्थ है—स्वतन्त्रता। समाज की कुरीतियों, कुसंस्कारों, अन्धविश्वासों, गलतफहमियों और बहमों से, जिनसे वह जकड़ा है, छुटकारा पाना ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

---

१. जहा खरो चंदण-भारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स।—आवश्यक निर्युक्ति, १००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के छात्र और फैशन :

आज के अधिकांश विद्यार्थी गरीबी, हाहाकार और रुदन के बन्धनों में पड़े हैं, फिर भी फैशन की फाँसी उनके गले से नहीं छूटती। मैं विद्यार्थियों से पूछता हूँ, क्या तुम्हारी विद्या इन बन्धनों के कारागार से मुक्त होने को उद्यत है? क्या तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों की दीवारों को तोड़ने को तैयार है? यदि तुम अपने बन्धनों को ही तोड़ने में समर्थ नहीं हो, तो अपने देश, जाति और समाज के बन्धनों की दीवारों को तोड़ने में कैसे समर्थ हो सकोगे? पहले अपने जीवन के बन्धनों को तोड़ने का सामर्थ्य प्राप्त करो, तभी राष्ट्र और समाज के बन्धनों को काटने के लिए शक्तिमान हो सकोगे। और, यदि तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों को तोड़ने में समर्थ नहीं है, तो समझ लो कि वह अभी अधूरी है, अतः उसका उचित फल तुम्हें नहीं मिलने का।

शिक्षा और कुशिक्षा :

यदि तुमने अध्ययन करके किसी भद्र व्यक्ति की आँखों में धूल झोंकने की चतुराई, ठगने की कला और धोखा देने की विद्या ही सीखी है, तो कहना चाहिए कि तुमने शिक्षा नहीं, कुशिक्षा ही पाई है और स्मरण रखना चाहिए कि कुशिक्षा, अशिक्षा से भी अधिक भयानक होती है। कभी-कभी पढ़े-लिखे आदमी अनपढ़ एवं अशिक्षितों से भी कहीं ज्यादा मक्कारियाँ सीख लेते हैं। स्पष्ट है, यह ऐसी शिक्षा, शिक्षा नहीं है, ऐसी कला, कला नहीं है, वह तो धोखेबाजी है, आत्म-वंचना है। और, ऐसी आत्म-वंचना है, जो जीवन को वर्बाद कर देने में सहज समर्थ है।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य :

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य क्या है? शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य अज्ञान को दूर करना है। मनुष्य में जो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ दबी पड़ी हैं, उन्हें प्रकाश में लाना ही शिक्षा का यथार्थ उद्देश्य है। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति तब होती है, जब शिक्षा के फलस्वरूप जीवन में सुसंस्कार उत्पन्न होते हैं। केवल शक्ति के विकास में शिक्षा की सफलता नहीं है, अपितु शक्तियाँ विकसित होकर जब जीवन के सुन्दर निर्माण में प्रयुक्त होती हैं, तभी शिक्षा सफल होती है। बहुत-से लोग यह समझ बैठे हैं कि मस्तिष्क की शक्तियों का विकसित हो जाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है, परन्तु यह समझ सर्वथा अधूरी है। मनुष्य के मस्तिष्क के साथ हृदय का भी विकास होना चाहिए अर्थात् मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए और वह विकास अपनी और अपने समाज एवं देश की भलाई के काम आना चाहिए, तभी शिक्षा सार्थक हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अध्ययन-काल की निष्ठा :

जो छात्र प्रारम्भ से ही समाज और देश के हित का पूरा ध्यान रखता है, वही अपने भविष्य का सुन्दर निर्माण कर सकता है, वही आगे चलकर देश और समाज का रत्न बन सकता है। ऐसा करने पर बड़ी-से-बड़ी उपाधियाँ उनके चरणों में आकर स्वयं लौटने लगती हैं। प्रतिष्ठा उनके सामने स्वयं हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती है। सफलताएँ उनके चरण चूमती हैं। विद्याध्ययन काल में विद्यार्थी की लगन एवं निष्ठा ही भविष्य में उसकी विद्या को सुफलदायिनी बनाती है।

विद्यार्थी जीवन : एक नव-अंकुर :

विद्यार्थी-जीवन एक उगता हुआ नव-अंकुर है। उसे प्रारम्भ से ही सार-संभाल कर रखा जाए, तो वह पूर्ण विकसित हो सकता है। बड़ा होने पर उसे सुन्दर बनाना, बहुत मुश्किल हो जाता है। आपने देखा होगा—घड़ा जब तक कच्चा होता है, तब तक कुम्हार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे अपनी इच्छा के अनुरूप, जैसा चाहे वैसा बना सकता है। किन्तु, वही घड़ा जब आपाक में पक जाता है, तब कुम्हार की कोई ताकत नहीं कि वह उसे छोटा या बड़ा बना सके, उसकी आकृति में कुछ भी अभीष्ट परिवर्तन कर सके।

यही बात छात्रों के सम्बन्ध में भी है। माता-पिता चाहें तो प्रारम्भ से ही बालकों को सुन्दर शिक्षा और सुसंस्कृत वातावरण में रखकर उन्हें राष्ट्र का होनहार नागरिक बना सकते हैं। वे अपने स्नेह और आचरण की पवित्र धारा से देश के नौनिहाल बच्चों का वर्तमान एवं भावी जीवन सुधार सकते हैं। बालक माता-पिता के हाथ का खिलौना होता है। वे चाहें तो उसे बिगाड़ सकते हैं और चाहें तो सुधार सकते हैं। देश के सपूतों को बनाना उन्हीं के हाथ में है।

वर्तमान विषाक्त वातावरण, और हमारा दायित्व :

दुर्भाग्य से आज इस देश में चारों ओर घृणा, विद्वेष, छल और पाखण्ड भरा हुआ है। माता-पिता कहलाने वालों में भी दुर्गुण भरे पड़े हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने बच्चों में सुन्दर संस्कारों का बीजारोपण किस प्रकार कर सकते हैं? प्रत्येक माता-पिता को सोचना चाहिए कि उनकी जिम्मेदारी केवल सन्तान को उत्पन्न करने और पालन-पोषण करने मात्र में ही पूर्ण नहीं हो जाती है। जब तक सन्तान को, सुशिक्षित एवं सुसंकार-सम्पन्न नहीं बना दिया जाता, तब तक वह पूरी नहीं होती।

आज, जबकि हमारे देश का नैतिक स्तर नीचा हो रहा है, छात्रों के जीवन का सही निर्माण करने की बड़ी आवश्यकता है। छात्रों का जीवन-निर्माण न सिर्फ घर पर होता है, और न केवल पाठशाला में ही। बालक घर में संस्कार ग्रहण करता है और पाठशाला में शिक्षा। दोनों उसके जीवन-निर्माण के स्थल हैं। अतएव घर और पाठशाला, दोनों ही जगह परस्पर यथोचित सहयोग स्थापित होना चाहिए और दोनों ही जगह के वायु-मण्डल को एक-दूसरे का पूरक और पृष्ठ-पोषक होना चाहिए।

आज, घर और पाठशाला में कोई सम्पर्क नहीं है। अध्यापक विद्यार्थी के घर से एकदम अपरिचित रहता है। उसे बालक के घर के वातावरण की कल्पना तक नहीं होती। और, माता-पिता प्रायः पाठशाला से अनभिज्ञ होते हैं। पाठशाला में जाकर बालक क्या सीखता है और क्या करता है, प्रायः माँ-बाप इस पर ध्यान नहीं देते हैं। बालक स्कूल चला गया और माता-पिता को छुट्टी मिल गई। फिर वह वहाँ जाकर कुछ करे या न करे, और कुछ सीखे या न सीखे, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं है। यह उपेक्षा-बुद्धि बालक के जीवन-निर्माण में बहुत घातक होती है।

सत्य और असत्य की विसंगति का कारण :

घर और पाठशाला के वायुमंडल में भी प्रायः विरूपता देखी जाती है। पाठशाला में बालक नीति की शिक्षा लेता है और सच्चाई का पाठ पढ़ कर आता है। वह जब घर आता है या दुकान पर जाता है, तो वहाँ वह असत्य का साम्राज्य पाता है। बात-बात में माता-पिता असत्य का प्रयोग करते हैं। शिक्षक सत्य बोलने की शिक्षा देता है और माता-पिता अपने व्यवहार से उसे असत्य बोलने का सबक सिखलाते हैं। इस तरह से परस्पर विरोधी वातावरण में पड़ कर बालक दिग्भ्रान्त हो जाता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि मुझे शिक्षक के बताए मार्ग पर चलना चाहिए अथवा माता-पिता द्वारा प्रदर्शित पथ पर। कुछ समय तक उसके अन्तःकरण में संघर्ष चलता रहता है और फिर वह एक निष्कर्ष निकाल लेता है। निष्कर्ष यह कि वैसे तो सत्य ही उचित है, किन्तु जीवन व्यवहार में प्रयोग असत्य का ही करना चाहिए। इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल कर वह छल-कपट और धूर्तता सीख जाता है। उसके जीवन में विरूपता आ जाती है। वह कहता है, नीति की बात, परन्तु चलता है, अनीति की राह पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालक के निर्माण में माता-पिता का हाथ :

माता-पिता यदि बालक में नैतिकता को उभारना चाहते हैं, तो उन्हें अपने घर को भी पाठशाला का रूप देना चाहिए। बालक पाठशाला से जो पाठ सीख कर आए, घर उसके प्रयोग की भूमि तैयार करे। इस प्रकार उसका जीवन भीतर-बाहर से एकरूप बनेगा और उसमें उच्च श्रेणी की नैतिकता पनप सकेगी। तब कहीं वह अपनी जिन्दगी को शानदार बना सकेगा। ऐसा विद्यार्थी जहाँ कहीं भी रहेगा, वह सर्वत्र अपने देश, अपने समाज और अपने माता-पिता का मुख उज्ज्वल करेगा। वह पढ़-लिख कर देश को रसातल की ओर ले जाने का, देश की नैतिकता का ह्रास करने का प्रयास नहीं करेगा, देश के लिए भार और कलंक नहीं बनेगा, बल्कि देश और समाज के नैतिक स्तर की ऊँचाई को ऊँची-से-ऊँची चोटी पर ले जाएगा और अपने व्यवहार के द्वारा उनके जीवन को भी पवित्र बना पाएगा।

पिता-पुत्र का संघर्ष :

आज के विद्यार्थी और उनके माता-पिता के मस्तिष्क में बहुत बड़ा विभेद खड़ा हो गया है। विद्यार्थी पढ़-लिख कर एक नये जीवन में प्रवेश करता है, एक नया स्पन्दन लेकर आता है, अपने भविष्य-जीवन को अपने ढंग से बिताने के मंसूबे बाँध कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है। परन्तु, उसके माता-पिता पुराने विचारों के होते हैं। उन्हें न तो अपने लड़के की जिज्ञासा का पता चलता है और न वे उस ओर ध्यान ही दे पाते हैं। वे एक नये गतिशील संसार की ओर सोचने के लिए अपने मानस-पट को बन्द कर लेते हैं। पर, जो नया खिलाड़ी है, वह तो हवा को पहचानता है। वह अपनी जिज्ञासा और अपने मनोरथ पूरे न होते देखकर पिता से संघर्ष करने को तत्पर हो जाता है। आज अनेक घर ऐसे मिलेंगे, जहाँ पिता-पुत्र के बीच आपसी संघर्ष चलते रहते हैं। पुत्र अपनी आकांक्षाएँ पूरी न होते देख कर जीवन से हताश हो जाता है, फलतः कभी-कभी चुपके-से घर छोड़कर पलायन भी कर जाता है। आए दिन अखबारों में छपने वाली 'गुमशुदा की तलाश' शीर्षक सूचनाएँ बहुत-कुछ इसी संघर्ष का परिणाम है। कभी-कभी आवेश में आकर आत्मघात करने की नौबत भी आ पहुँचती है, ऐसी अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं। दुर्भाग्य की बात समझिए, कि भारत में पिता-पुत्र के संघर्ष ने गहरी जड़ जमा ली है।

माता-पिता का दायित्व :

आज की इस तीव्रगति से आगे बढ़ती हुई युगधारा के बीच प्रत्येक माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे इस गतिधारा को पहचानें। वे स्वयं जहाँ हैं, वहीं अपनी सन्तान को रखने की अपनी व्यर्थ की चेष्टा का त्याग कर दें। ऐसा नहीं करने में स्वयं उनका और उनकी सन्तान का कोई भी हित नहीं है। अतएव आज प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वे अपनी सन्तान को अपने विचारों में बाँध कर रखने का प्रयत्न न करें, उसे युग के साथ चलने दें। हाँ, इस बात की सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि सन्तान कहीं अनीति की राह पर न चल पड़े। परन्तु, इसके लिए उनके पैरों में बेड़ियाँ डालने की कोशिश न करके उसे सोचने और समझने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और अपना पथ आप प्रशस्त करने का प्रयत्न उन्हें करने देना चाहिए।

बालकों का दायित्व :

मैं बालकों से भी कहूँगा कि वे ऐसे अवसर पर आवेश से काम न लें। वे अपने माता-पिता की मानसिक स्थिति को समझें और अपने सुन्दर, शुभ एवं प्रगतिशील विचारों पर दृढ़ रहते हुए, नम्रतापूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करें, परन्तु साथ ही माता-पिता को भी कष्ट न पहुँचाएँ। शान्ति और धैर्य से काम लेने पर अन्त में उन सद्‌विचारों की प्रगतिशीलता की ही विजय होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रामक धारणाएँ :

बहुत से माता-पिता प्रगतिशील और विकासेच्छु छात्रों से लड़-झगड़ कर उनकी प्रगति को रोक देते हैं। लड़कियों के प्रति तो उनका रुख और भी कठोर होता है। प्रायः लड़कियों का जीवन तो तुच्छ और नगण्य ही समझा जाता है।

इस प्रकार, समाज में जब होनहार युवाशक्ति के निर्माण का समय आता है, तो उनके विकास पर ताला लगा दिया जाता है। उनको अपने माता-पिता से जीवन बनाने की कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती। माता-पिता उलट उनके मार्ग में काँटे बिछा देते हैं। उन्हें रोजमर्रा के परम्परागत व्यापार की चक्की में जोत दिया जाता है। वे उन होनहार युवकों को पैसा बनाने की मशीन बना देते हैं, जीवन की ओर कतई ध्यान नहीं दिया जाता। देश के हजारों नवयुवक इस तरह अपनी जिन्दगी की अमूल्य घड़ियों को खो कर केवल पैसे कमाने की कला में ही लग जाते हैं। इसलिए समाज और राष्ट्र के लिए वे तनिक भी उपयोगी नहीं बन पाते।

तोड़ना नहीं, जोड़ना सीखें :

लेकिन छात्रों को किसी से अपने सम्बन्ध तोड़ने नहीं हैं, सबके साथ सम्यक् व्यवहार करना हैं। हमें जोड़ना सीखना है, तोड़ना नहीं। तोड़ना आसान है, पर जोड़ना कठिन है। जो मनुष्य किसी-न-किसी रूप में हर एक से जोड़ने की कला सीख जाता है, वह जीवन-संग्राम में कभी भी हार नहीं खाता। वह विजयी होकर ही लौटता है।

श्री अब्दुर्रहीम खानखाना, अपने युग के एक महान् विचारक, प्रबुद्ध सेनापति हुए हैं। उन्होंने कहा था—

"मेरा काम तोड़ना नहीं, जोड़ना है। मैं तो सोने का घड़ा हूँ, टूटने पर सौ बार जुड़ जाऊँगा। मैं जीवन में चोट लगने पर टूटा हूँ, फिर भी जुड़ गया हूँ। मैं मिट्टी का वह घड़ा नहीं हूँ, जो एक बार टूटने पर फिर कभी जुड़ता ही नहीं। मैंने अपनी जिन्दगी में मात्र जुड़ना ही सीखा है।" उनकी इस बात का उनकी अपनी सेना और पुरजन-परिजनों पर काफी अच्छा प्रभाव पड़ा।

तो छात्रों को सोने के घड़े की तरह, माता-पिता द्वारा चोट पहुँचाए जाने पर भी टूट कर जुड़ जाना चाहिए, बर्बाद न हो जाना चाहिए।

असफलता ही, सफलता की जननी है :

आज के छात्र की जिन्दगी कच्ची जिन्दगी है। वह एक बार थोड़ा-सा असफल हो जाने पर निराश हो जाता है। बस एकबार गिरते ही, मिट्टी के ढेले की तरह बिखर जाता है। परन्तु जीवन में सर्वत्र सर्वदा सफलता ही सफलता मिले, असफलता का मुंह कभी भी देखना न पड़े, यह कदापि सम्भव नहीं। सच्चाई तो यह है कि असफलता से टकराव के पश्चात् जब सफलता प्राप्त होती है, तो वह कहीं और अधिक आनन्ददायिनी होती है। अतएव सफलता की तरह यदि असफलता का भी स्वागत नहीं कर सकते, तो कम-से-कम उससे हताश तो नहीं ही होना चाहिए। असफल होने पर मन में धैर्य की मजबूत गाँठ बाँध लेनी चाहिए, घबराना कभी भी नहीं चाहिए। असफल होने पर घबराना, पतन का चिन्ह है, और धैर्य रखना, उत्साह रखना, उत्थान का चिन्ह है। उत्साह सिद्धि का मन्त्र है। छात्रों को असफल होने पर भी नीचे जोर से पटकी हुई गेंद की तरह पुनः उभरना सीखना चाहिए। हतोत्साहित होकर अपना काम छोड़कर बैठ नहीं जाना चाहिए। कहा भी है—'असफलता ही सफलता की जननी और आनन्द का अक्षय भण्डार है।'

परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर आत्महत्या करने की खबरें, आए दिन समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। विद्यार्थियों के लिए यह बड़े कलंक की बात है। चढ़ती हुई जवानी में तो मनुष्य को उत्साह और पौरुष का मूर्तिमान रूप होना चाहिए, उसमें असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने का हौसला होना चाहिए, समुद्र को लाँघ जाने और आकाश के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारे तोड़ लाने तक का साहस होना चाहिए, बड़ी-से-बड़ी कठिनाई को भी पार कर जाने की हिम्मत होनी चाहिए। यदि वे साहस की प्रतिमूर्ति हो कर भी परीक्षा आदि में अनुत्तीर्ण होने मात्र से हताश हो कर आत्मघात के लिए तैयार हो जाएँ, यह उन्हें शोभा नहीं देता। छात्रों में इस प्रकार की दुर्बलता का होना राष्ट्र के भविष्य के लिए भी महान् चिन्ता की बात है।

छात्रों की मानसिक दुर्बलता का कारण :

आज छात्रों के मन में जो इतनी दुर्बलता आ गई है, उसका कारण उनके अभिभावकों की भूल है। वे महल तो गगन-चुम्बी तैयार करना चाहते हैं, परन्तु उसमें सीढ़ी एक भी नहीं लगाना चाहते। और, बिना सीढ़ी के महल में रहना पसन्द ही कौन करेगा? माता-पिता प्रारम्भिक संस्कार सीढ़ियाँ बनने नहीं देते और उन्हें पैसा कमाने के गोरखधंधे में डाल देने की ही धुन में लगे रहते हैं।

ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी एक कहानी में लिखा है—

एक सेठ ने एक बड़ा इंजीनियर रख कर एक बहुत बड़ा दो मंजिल का सुन्दर महल बनवाया। लोग सेठ के महल को देखने आये। पहली मंजिल बड़ी शानदार बनी थी। उसे देखभाल कर जब वे दूसरी मंजिल पर जाने लगे तो सीढ़ियाँ ही नहीं मिलीं। इधर देखा, उधर देखा, परन्तु सीढ़ियों का कहीं कोई पता न चला। आखिरकार वे सेठ को कहने लगे—"सेठजी यह क्या ताबूत खड़ा कर दिया है? ऊपर की मंजिल में जाने के लिए तो सीढ़ियाँ तक भी नहीं बनवाई हैं। आपकी वह ऊपर की मंजिल किस काम आएगी? लोगों की आलोचना सुनकर सेठजी अपनी भूल पर मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे।"

कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त सेठ की तरह इंजीनियररूपी शिक्षक लगाकर माता-पिता छात्ररूपी महल तो खड़ा कर लेते हैं, वह दिखाई भी बड़ा शानदार देता है, परन्तु उसमें सुसंस्कारों की सीढ़ियाँ नहीं लग पातीं। इस कारण वह महल निरुपयोगी हो जाता है और सूना होकर पड़ा-पड़ा खराब हो जाता है। संस्कारों के अभाव में वह जिन्दगी वर्बाद हो जाती है। ऐसे छात्र छोटी-छोटी बात पर भी माता-पिता को धमकी दे कर घर तक से निकल भागते हैं।

लड़कों की आत्महत्या और उनके फरार होने का उत्तरदायित्व माताओं पर भी कम नहीं है। वे पहले तो लड़के को लाड़-प्यार करके सिर चढ़ा लेती हैं, उसे बिगाड़ देती हैं, उसे उच्छृंखल बना देती हैं, और जब वह बड़ा होता है, तो उसकी इच्छाओं पर कठिन प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर देती हैं। जब लड़का अपने चिर-परिचित वातावरण और व्यवहार के विरुद्ध आचरण देखता है, तो उसे सहन नहीं कर पाता और फिर आवेश में न करने योग्य काम भी कर बैठता है।

छात्रों की दुर्बलता : उनका महान् कलंक :

कारण चाहे कुछ भी हो, कहीं से भी हो, हमारे नव-युवकों की यह दुर्बलता उनके लिए कलंक की बात है। नवयुवक को तो प्रत्येक परिस्थिति का दृढ़ता और साहस के साथ सामना करना चाहिए। उसे प्रतिकूलताओं से जूझना चाहिए, असफलताओं से लड़ना चाहिए, विरोध के साथ संघर्ष करना चाहिए, कठिनाइयों को कुचल डालने के लिए तैयार रहना चाहिए और बाधाओं को उखाड़ फेंकने की हिम्मत अपने अंतर्मन में रखनी चाहिए। उसे कायरता नहीं सोहती। दुर्बलता उसके पास फटकनी नहीं चाहिए। आत्मघात का विचार साहसी पुरुषों का नहीं, अपितु वह अतिशय नामर्दों, कायरों और बुजदिलों का मार्ग है।

जीवन से उदासीनता : आत्मा का अपमान :

किसी भी प्रकार की असफलता के कारण जीवन से उदासीन हो जाना अपने शौर्य का, अपने पौरुष का, अपने पराक्रम का और अपनी आत्मा का अपमान करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक आचार्य कहते हैं :—'**नात्मानमवमन्येत।**' अर्थात्—अपनी आत्मा का अपमान मत करो। तुम्हें मनुष्य की जिन्दगी मिली है, तो उसका सदुपयोग करो। यदि तुम्हें देश के नैतिक स्तर को उठाना है, तो जीवन में प्रारम्भ से ही ऊँचे संस्कार डालो। अच्छे संस्कार केवल पोथियाँ पढ़ने से नहीं, सत्संगति से ही प्राप्त होते हैं। अतएव पढ़ने-लिखने से जो समय बचे, उसे श्रेष्ठ सदाचारी पुरुषों और सन्तों के सम्पर्क में लगाना चाहिए।

छात्र और चलचित्र :

आजकल अधिकांश विद्यार्थियों का संध्या का समय प्रायः चलचित्र देखने में व्यतीत होता है। चारों ओर आज चलचित्रों की धूम मची है। स्वीकार करना चाहिए कि सिनेमा से लाभ भी उठाया जा सकता है, परन्तु हमारे यहाँ जो फिल्में आजकल बन रही हैं, वे जनता को लाभ पहुँचाने की बात तो दूर, उलटे उसकी जगह हानि ही ज्यादा पहुँचाती हैं। उनसे समाज में बहुत सी बुराइयाँ फैली हैं और आज भी फैल रही हैं। प्रायः बाजारू प्रेम के किस्से और कुरुचिपूर्ण गायन तथा नृत्य आदि के प्रदर्शन बालकों के अपक्व मस्तिष्क में जहर भरने का काम कर रहे हैं। छोटे-छोटे अबोध बालक और नवयुवक जितना इन चित्रों को देखकर बिगड़ते हैं, उतना शायद किसी दूसरे तरीके से नहीं बिगड़ते।

यूरोप आदि देशों में बालकों को सहज रूप में विविध विषयों की शिक्षा देने के लिए चलचित्रों का उपयोग किया जाता है। वहाँ के समाज ने इस कला का सदुपयोग किया है। परन्तु, हमारे यहाँ इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। खेद है, कि स्वतन्त्र भारत की सरकार भी, जिससे इस विषय में सुधार की आशा की जाती थी, इस ओर कोई सक्षम एवं उपयुक्त कार्य नहीं कर रही है।

एक तरफ सरकार इधर ध्यान नहीं दे रही है और दूसरी तरफ फिल्म निर्माता अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं। सब अपने-अपने स्वार्थ-साधन में संलग्न हैं। ऐसी स्थिति में, हम नवयुवकों से ही कहेंगे कि वे पैसे देकर बुराइयाँ न खरीदें। अपने जीवन-निर्माण के इस स्वर्ण-काल को सिनेमा देख-देख कर और उनसे कुत्सित-संस्कार ग्रहण कर अपने ही हाथों अपना सर्वनाश न करें।

छात्रों का महान् कर्तव्य :

विद्यार्थी सब प्रकार के दुर्व्यसनों से बच कर अध्ययन एवं चिन्तन-मनन में ही अपने समय का सदुपयोग करें। अपने जीवन को नियमित बनाने का प्रयास करें। समय को व्यर्थ नष्ट न करें। इसी में उनका कल्याण है।

असफलताओं से घबराना जिन्दगी का दुरुपयोग करना है। तुम्हारा मुखमंडल विपत्तियाँ आने पर भी हँसता हुआ होना चाहिए। तुम मनुष्य हो। तुम्हें हँसता हुआ चेहरा मिला है। फिर क्या बात है कि तुम नामर्द, डरपोक, एवं उदास दिखाई देते हो? क्या पशुओं को कभी हँसते देखा है? शायद कभी नहीं। सिर्फ मनुष्य को ही प्रकृति की ओर से हँसने का वरदान मिला है। अतएव कोई भी काम करो, वह सरल हो या कठिन, मुस्कराते हुए करो। घबराओ मत, ऊबो मत। तुम्हें चलना है, रुकना नहीं। चलना ही गति है, जीवन है और रुक जाना अगति है, मरण है।

विनम्रता : लक्ष्यपूर्ति का मूलमन्त्र :

तुम्हारा गन्तव्य अभी दूर है। वहाँ तक पहुँचने के लिए हिम्मत, साहस एवं धैर्य रखो और आगे बढ़ते जाओ। नम्रता रख कर, विनयभाव और संयम रख कर चलते चलो। अपने हृदय में कलुषित भावनाओं को मत आने दो। क्षण भर के लिए भी हीनता का भाव अपने ऊपर मत लाओ। अपने महत्व को समझो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन में सफलता का एकमात्र मूल मंत्र है, व्यक्ति की अपनी अकृत्रिम सहज विनम्रता। नीति भी है—

> "विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम्।
> पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥"

एक अंग्रेज विचारक ने भी यही कहा है—

> "He that is down needs fear no fall."

तुलसीदासजी ने इसे एक रूपक के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

> "बरसहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥"

अतः स्पष्ट है, जिसके अन्तर्मन में विनम्रता का वास है, वही सफल है। विद्या प्राप्ति का यही सामाजिक एवं धार्मिक उच्चतम लक्ष्य है।

छात्र : भविष्य के एकमात्र कर्णधार :

छात्र देश के दीपक हैं, जाति के आधार हैं और समाज के भावी निर्माता हैं। विश्व का भविष्य उनके हाथों में है। इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का महान् कार्य उन्हीं को करना है। उन्हें स्वयं महान् बनना है और मानव जाति के मंगल के लिए अथक श्रम करना है। विद्यार्थी जीवन इसकी तैयारी का स्वर्ण-काल है। अतः छात्रों को अपने सर्वोपयोगी विराट् जीवन के निर्माण के लिए सतत उद्यत रहना है। एक अपूर्व आशा से भरे कोटि-कोटि नेत्र उनकी ओर देख रहे हैं। अतः उन्हें अपने जीवन में मानव-समाज के लिए मंगल का अभिनव द्वार खोलने का संकल्प लेना है। इस महान् दायित्व को अपने मन में धारण करके उन्हें अपने जीवन का निर्माण शुरू कर देना है। इसी से विश्व का कल्याण हो सकता है और उनकी आशाएँ सफल हो सकती हैं।

शिक्षा, समस्या और समाधान :

आज के युग में शिक्षा का प्रचार-प्रसार बड़ी तीव्रगति से हो रहा है। धड़ल्ले के साथ नए-नए विद्यालय, पाठशालाएँ एवं कालेज खुलते जा रहे हैं, और जिधर देखो, उधर ही विद्यार्थियों की भीड़ जमा हो रही है। जिस गति से विद्यालय खुलते जा रहे हैं, उससे भी अधिक तीव्रगति से विद्यार्थी बढ़ रहे हैं। कहीं दो-दो और कहीं तीन-तीन शिफ्ट चल रही हैं। दिन के भी और रात के भी कालेज चल रहे हैं। अभिप्राय यह है कि आज का युग शिक्षा की ओर तीव्रगति से बढ़ रहा है। गुजराती में एक कहावत है, जिसका भाव है—आज के युग में तीन चीजें बढ़ रही हैं "चणतर, जणतर और भणतर।" नये-नये निर्माण हो रहे हैं। बाँध और विशाल भवन बन रहे हैं। जिधर देखो, भवन खड़े हो रहे हैं, बड़ी तेजी से पाँच-पाँच, सात-सात, दस-दस मंजिल की अट्टालिकाएँ सिर उठाकर आकाश से बातें करने को उद्यत हैं। भवन-निर्माण, जिसे गुजराती में 'चणतर' कहते हैं, पहले की अपेक्षा सैकड़ों गुना बढ़ गया है। फिर भी लाखों मनुष्य बे-घरबार हैं, दिन-भर सड़कों पर इधर-उधर भटकते हैं और रात को फुटपाथ पर जीवन बिताते हुए, एक दिन दम तोड़ देते हैं। जिन्दगी उनकी खुले आसमान के नीचे बीतती है। सिर छिपाने को उन्हें एक दीवाल का कोना भी नहीं मिलता। यह स्थिति क्यों हो रही है? कारण यह है कि जिस तेजी से 'चणतर' के रूप में ये मकान बन रहे हैं, उससे भी अधिक तीव्र गति से 'जणतर' के रूप में जन्म लेने वाले भी बढ़ रहे हैं। यदि एक बम्बई जैसे शहर में दिन-भर में औसत एक मकान बनता होगा, तो नए मेहमान सौ से भी ऊपर पैदा हो जाते हैं। जणतर अबाध-गति से बढ़ रहा है, इसीलिए देश के सामने खाद्य-संकट की समस्या विकराल सुरसा राक्षसी के समान मुंह फैलाए निगल जाने को लपक रही है। क्या मकान-संकट, क्या वस्त्र-संकट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भी जितने संकट या अभाव आज मनुष्य को परेशान कर रहे हैं, यदि गहराई से देखा जाए, तो उनके मूल में यही जनसंख्या-वृद्धि की ही बीमारी है। संसार के बड़े-बड़े समाज-शास्त्री एवं वैज्ञानिक आज चिन्तित हो उठे हैं कि यदि जनसंख्या इसी गति से बढ़ती रही, तो प्रस्तुत शताब्दी के अन्त तक संसार की जनसंख्या दुगुनी हो जाएगी। इसका मतलब हुआ कि जिस भारतवर्ष में आज लगभग पचास करोड़ मनुष्य हैं, वहाँ आने वाले तीस वर्षों में एक अरब से भी अधिक हो जाएँगे। इसका सीधा-सा अर्थ है कि प्रतिवर्ष एक करोड़ से अधिक जनसंख्या की वृद्धि हो रही है! आप सुनकर चौंक उठेंगे, पर यह जनगणना करने वालों के आँकड़े हैं, जो काफी तथ्य पर आधारित हैं, कोई कल्पित नहीं हैं। अब आप अनुमान कर सकते हैं कि इन अभावों, संकटों की जड़ कहाँ है? आप स्वयं ही तो इनकी जड़ में हैं।

'जणतर' की वृद्धि के साथ तीसरी बात है—भणतर की, याने पढ़ाई की। जैसा कि मैंने ऊपर बताया है, आज शिक्षा की गति भी बड़ी तीव्रता के साथ बढ़ती जा रही है। यह ठीक है कि देश में कोई अशिक्षित-निरक्षर न रह। पर शिक्षा का प्रचार जिस गति और वेग के साथ हो रहा है, देश का जितना श्रम, समय और अर्थ इस पर खर्च हो रहा है, उतनी सफलता नहीं मिल रही है, यह स्पष्ट है।

समाचार पत्र हमारे सामने हैं। अधिकतर छात्र ही हैं, जो आए दिन कोई-न-कोई आन्दोलन चला रहे हैं, तोड़-फोड़ कर रहे हैं, अध्यापकों एवं प्रोफेसरों की पिटाई कर रहे हैं, स्कूल, ऑफिस और सरकारी दफ्तरों में आग लगा रहे हैं, बसें, मोटरें और रेलें जला रहे हैं, देश में चारों ओर हिंसा, उपद्रव और विनाश की लीला रच रहे हैं। भले ही राजनीतिक दल इसके पीछे अपना रोष, आक्रोष और प्रतिपक्षीय भावनाओं को बल दे रहे हों, पर इन हड़तालों और उपद्रवों का प्रबल हथियार विद्यार्थी-वर्ग ही बन रहा है, क्या यह शर्म और दुःख की बात नहीं है?

मैं कभी-कभी सोचता हूँ—शिक्षण के साथ बच्चों में जो ये उपद्रवी संस्कार आ रहे हैं, वे उन्हें किस अन्धगर्त में ले जा कर धकेलेंगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनकी यह शक्ति, उनका यह अध्ययन और ज्ञान उन्हें रावण की परम्परा में ले जाकर खड़ा करेगा या राम की भूमिका पर? रावण वस्तुतः अज्ञानी नहीं था, वह एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक था अपने युग का, साथ ही कुशल राजनीतिज्ञ, शक्तिशाली योद्धा और शिक्षाविद भी था वह। जल, थल और नभ पर उसका शासन था। आकाश में उसके पुष्पक-विमान उड़ते थे, समुद्र में उसके जलयान तैरते थे। अग्नि और वायु तत्त्व के उसने अनेकों प्रयोग किए थे, कहते हैं देवताओं को उसने अपनी कैद में बैठा रखा था। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि उसने प्रकृति की दिव्य शक्तियों को अपने नियंत्रण में ले रखा था। उसके इंजीनियरों ने सोने की विशाल लंका नगरी का निर्माण किया था। कितना बड़ा ऐश्वर्य और वैभव था उसका? पर आखिर हुआ क्या? महान् बुद्धिमान और वैज्ञानिक राजा रावण को राक्षस क्यों कहा गया? मनुष्य था वह हमारे जैसा ही। पर भारतीय-संस्कृति ने उसको राक्षस के रूप में चित्रित किया है। क्यों? इसीलिए कि उसकी शक्ति, उसका ज्ञान संसार के निर्माण के लिए नहीं, विनाश के लिए प्रयुक्त हो गया था। उसकी देह की आकृति मनुष्य की थी, पर उसका हृदय एवं उसके संस्कार आसुरी थे, राक्षसी थे।

दुःशासन और दुर्योधन का चरित्र जब हम पढ़ते हैं, तो लगता है, वे कितने बुद्धिमान थे? उनमें कितनी शक्ति थी और कितना बल था? कैसा विज्ञान था उनके पास कि बड़े-बड़े नगरों का निर्माण किया, कितने विचित्र भवन बनाए और देश रक्षा के नाम पर कितने भयंकर अस्त्र और शस्त्र तैयार किए? किन्तु फिर भी उस दुर्योधन को, जिसका नाम माता-पिता ने बड़े प्यार से सुयोधन रखा था, उसे संसार दुर्+योधन अर्थात् 'दुष्ट योद्धा', 'दुष्ट वीर' क्यों कहता है? उसे कुल-कलंक और कुलांगार क्यों कहा गया? यही तो एक उत्तर है कि उसके विचार और संस्कार सुयोधन के नहीं, दुर्योधन के ही थे। वह कुल का फूल नहीं, बल्कि कंटक ही बना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रावण और दुर्योधन को, इतनी शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आज संसार घृणा की दृष्टि से देखता है। आज कोई भी माता-पिता अपने पुत्र का नाम रावण या दुर्योधन के नाम पर नहीं रखना चाहता। राम का नाम आज घर-घर में मिल जाएगा। रामचन्द्र, रामलाल, रामसिंह और रामकुमार, चाहे जिधर आवाज दे लीजिए, कोई-न-कोई हुँकार करेगा ही, पर कोई रावणलाल, रावणसिंह या रावणकुमार भी मिलेगा? दैवी और आसुरी-वृत्तियाँ की भावना ही इस अन्तर के मूल में हैं। रावण, दुर्योधन और कंस में जहाँ आसुरी-वृत्तियाँ मुखर थी, वहाँ राम और कृष्ण में दैवी वृत्तियों का प्रस्फुटन था। यही कारण है कि किसी पंडित ने रामकुमार या कृष्णकुमार की जगह रावण कुमार, दुर्योधन कुमार या कंसकुमार नाम नहीं निकाला।

यह सब प्राचीन भारतीय तत्त्व-चिन्तन की एक विशेष मनोवृत्ति की झलक है। भारतीय तत्त्व-दर्शन कहता है कि संस्कृति का निर्माण संस्कारों से होता है, कोरे शिक्षण या अध्ययन से नहीं! आज भारत में राम की संस्कृति चलती है, कृष्ण की संस्कृति जीवित है और धर्मपुत्र-युधिष्ठिर की संस्कृति भी घर-घर में प्रचलित है, परन्तु क्या कहीं रावण की संस्कृति भी संस्कृति मानी गयी है? रावण और दुर्योधन के संस्कार, वस्तुतः संस्कार नहीं थे, उन्हें तो विकार ही कहना उचित है, जो आज हमारे समाज में पुनः सिर उठा रहे हैं। हिंसा, उपद्रव और तोड़फोड़ के रूप में वे अप-संस्कार हमारे समाज के बच्चों में फिर करवट ले रहे हैं, अतः राम की संस्कृति के पुजारियों को सावधान हो जाना चाहिए कि रावण के संस्कारों को कुचले बिना, उन्हें बदले बिना राम की संस्कृति ज्यादा दिन जीवित नहीं रह सकेगी! राम-रावण संघर्ष आज 'व्यक्ति-वाचक' नहीं, बल्कि 'संस्कार-वाचक' हो गया है और वह संघर्ष आज फिर खड़ा होने की चेष्टा कर रहा है।

विद्या का लक्ष्य :

आप यदि विद्यार्थी वर्ग में पनपने वाले इन रावणीय संस्कारों को बदलना चाहते हैं, और विश्व में राम की संस्कृति एवं परम्परा को आगे बढ़ाना चाहते हैं, तो आपको अपना उत्तरदायित्व समझना होगा। यदि अगली पीढ़ी को दिव्य उत्थान के लिए तैयार करना है, तो अभी से उसके निर्माण की चिन्ता करनी होगी। बच्चों का बाह्य निर्माण तो प्रकृति ने कर दिया है, पर उनके आन्तरिक संस्कारों के निर्माण का कार्य अभी शेष है। खेद है, बालक और बालिकाओं के इस संस्कार से सम्बन्धित जीवन-निर्माण की दिशा में आज चिन्तन नहीं हो रहा है। आप यदि चाहते हैं, कि आपके बालकों में, आपकी सन्तान में पवित्र और उच्च संस्कार जागृत हों, वे अपने जीवन का निर्माण करने में समर्थ बनें और समाज एवं राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक के रूप में प्रस्तुत हो सकें, तो आपको अभी से इसका विचार करना चाहिए। आप इस विषय में चिन्ता जरूर कर रहे होंगे, पर आज चिन्ता का युग नहीं, चिन्तन का युग है। चिन्ता को दूर फेंकिए और मस्तिष्क को उन्मुक्त करके चिन्तन कीजिए कि बच्चों में शिक्षण के साथ उच्च एवं पवित्र संस्कार किस प्रकार जागृत हों।

किसी भी विद्यार्थी से आप पूछ लीजिए कि आप पढ़कर क्या करेंगे? कोई कहेगा—डॉक्टर बनूंगा, कोई कहेगा इन्जीनियर बनूंगा, कोई वकील बनना चाहेगा तो कोई अधिकारी। कोई इधर-उधर की नौकरी की बात करेगा, तो कोई दुकानदारी की। किन्तु यह कोई नहीं कहेगा कि मैं समाज एवं देश की सेवा करूँगा, धर्म और संस्कृति की सेवा करूँगा। उनके जीवन में इस प्रकार का कोई उच्च संकल्प जगाने की प्रेरणा ही नहीं दी जाती। भारतीय संस्कृति के स्वर उनके जीवन को स्पर्श भी नहीं करते। हमारी भारतीय संस्कृति का यह उद्‌घोष है—तुम अध्ययन कर रहे हो, शिक्षण प्राप्त कर रहे हो, किन्तु उसके लिए महत् संकल्प जगाओ। वहाँ स्पष्ट निर्देश किया गया है—"**सा विद्या या विमुक्तये**" 'तुम्हारे अध्ययन और ज्ञान की सार्थकता तुम्हारी विमुक्ति में है।' जो विद्या तुम्हें और तुम्हारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज को अन्ध-विश्वासों से मुक्त करा सके, दुःख और कष्टों से मुक्ति दिला सके, वही सच्ची विद्या है। विद्या भोग-विलास की या बौद्धिक कसरत की वस्तु नहीं है। वह अपने में एक परम पवित्र संस्कारी भाव है। बुद्धि को स्वार्थ और अज्ञान के घेरे से निकालकर परमार्थ, जन-सेवा और ज्ञान के उन्मुक्त वातावरण में लाकर उपस्थित कर देने में ही विद्या की उपादेयता है। जब तुम्हारे स्वार्थ परिवार के हितों से टकराते हों, तो तुम अपने स्वार्थों की बलि देकर परिवार का हित करने का निर्णय कर सको और पारिवारिक हित के सामने समाज के हितों को मुख्यता देकर चल सको, तब तो तुम्हारे ज्ञान की, बुद्धि की कुछ सार्थकता है, अन्यथा अपने स्वार्थ हेतु तो जीवन भर कीड़े-मकोड़े भी, पशु-पक्षी-जलचर भी और वन-मानुष भी यत्नशील रहते ही हैं। राष्ट्र और समाज के हितों के प्रश्न पर आप भी, अपने भाई-भतीजे और बिरादरी का ही एकांगी स्वार्थ ले कर सोचते हैं। क्षुद्र प्रलोभनों के सामने आपका समाज और राष्ट्र प्रेम यदि पराजित हो जाता है, तो आप वास्तव में शिक्षित नहीं कहे जा सकते। इसके विपरीत यदि आप आगे बढ़ कर समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए एक दिन अपने समस्त स्वार्थों का समग्र रूप से बलिदान कर सकें, अपने व्यक्तिगत भोग और सुख की अपेक्षाओं को ठोकर मार कर जीवन में संयम और इन्द्रिय-निग्रह का आदर्श उपस्थित कर सकें, तो आप सही अर्थ में सुशिक्षित, सुसंस्कृत तथा सभ्य हैं। आप के शिक्षण एवं ज्ञान से यही अपेक्षा है, भारतीय-संस्कृति को।

मैं आपसे ऊपर कह चुका हूँ कि रावण इतना बड़ा विद्वान् होते हुए भी ज्ञानी क्यों नहीं माना गया? चूंकि उसका ज्ञान इन्द्रियों की दासता के लिए था। वह पंडित होकर भी अपने आप पर संयम नहीं रख सका था। सीता को लाते समय वह जानता था कि यह मेरे विनाश का निमन्त्रण है। सोने की लंका के सुन्दर उपवनों को जलाने के लिए यह दहकती हुई आग है। किन्तु यह जानकर भी वह आत्मसंयम खो बैठा और अपने हाथ अपनी चिता तथा अपने साम्राज्य की चिता तैयार कर ली। इसीलिए भारतीय संस्कृति का यह सन्देश है कि ज्ञान का सार है—संयम! अपने आप पर संयम! विद्या का उद्देश्य है—विमुक्ति! अपने स्वार्थ और अहंकार से मुक्ति!

हमारे शिक्षण केन्द्र :

एक बात यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हम जिस प्रकार की शिक्षा, ज्ञान और विद्या का आदर्श उपस्थित करते हैं, क्या उस प्रकार की शिक्षा हमारी शिक्षण संस्थाएँ आज दे रही हैं? जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। आज की जो शिक्षा-पद्धति है, वह मूलतः गलत समझ पर चल रही है। भारत के शिक्षाशास्त्री इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि विद्यार्थियों को, विद्यालयों में, शिक्षण केन्द्रों में, जो शिक्षा और संस्कार मिलने चाहिए, वे नहीं मिल रहे हैं। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच जो मधुर और शिष्ट सम्बन्ध रहने चाहिए, वे आज कहाँ हैं? भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य के संबंध का एक उच्च आदर्श है। गुरु उसका अध्यापक भी होता है और अभि-भावक भी। वह शिष्य के चरित्र का निर्माता होता है। उच्च संस्कारों और संकल्पों का सर्जक होता है। अपने उज्ज्वल चरित्र और सत्कर्मों की प्रतिच्छाया शिष्य के हृदय-पटल पर गुरु जितनी कुशलता से अंकित कर सकता है, उसमें जीवन भर सकता है, वह दूसरों के लिए सहज संभव नहीं है। पर आज गुरु-शिष्य का सम्बन्ध क्या है? आज का अध्यापक अपने को एक वेतनभोगी नौकर मानता है। वह अपने आपको 'गुरु' अनुभव ही नहीं करता, उसके मन में कर्तव्य और उत्तरदायित्व की कोई धारणा ही नहीं होती, कोई उदात्त परिकल्पना ही नहीं जगती।

प्राचीन समय में गुरुकुल पद्धति से शिक्षा दी जाती थी। उस काल की स्थितियों को देखने से पता चलता है कि छात्र गुरुकुल में अपने सहपाठियों एवं शिक्षकों के साथ बड़े ही आनन्द एवं उल्लास के साथ सह-जीवन प्रारम्भ करता था, गुरुकुलों का वातावरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक विशेष आत्मीयता के रस से ओत-प्रोत होता था। वहाँ की नीरव शान्ति, स्वच्छ और शान्त वातावरण उच्च संकल्पों की प्रेरणा देता हुआ-सा लक्षित होता था। वहाँ की हवा में स्निग्धता और संस्कारिता के परमाणु प्रसारित रहते थे। छात्र परिवार से और समाज से दूर रहकर एक नई सृष्टि में जीना प्रारम्भ करता था। जहाँ किसी प्रकार का छल, छद्म, हिंसा, असत्य, चोरी और अन्य विकारों का दूषित एवं घृणित वायुमण्डल नहीं था। भिन्न-भिन्न जातियों, समाजों और संस्कारों के विद्यार्थी एक साथ रहते थे, उससे उनमें जातीय सौहार्द, प्रेम और सौम्य संस्कारों की एकात्मकता के अंकुर प्रस्फुटित होते थे। गुरु और शिष्य का निकट सम्पर्क दोनों में आत्मीय एकरसता के सूत्र को जोड़ने वाला होता था। गुरु का अर्थ, वहाँ केवल अध्ययन कराने वाले शिक्षकों से ही नहीं था, अपितु गुरु उस काल का पूर्ण व्यक्तित्व होता था—जो शिष्य के जीवन की समस्त जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेकर चलता था। उसके रहन-सहन, खान-पान और प्रत्येक व्यवहार में से छनते हुए उसके चरित्र का निरीक्षण करता था। उसके जीवन में वह उच्च संस्कार जगाता था और ज्ञान का आलोक प्रदान करता था। इस प्रकार छात्र गुरुकुल में सिर्फ ज्ञान ही नहीं पाता था, बल्कि सम्पूर्ण जीवन पाता था। संस्कार, व्यवहार, सामाजिकता के नियम, कर्तव्य का बोध और विषय वस्तु का ज्ञान—इस प्रकार जीवन का सर्वांगीण अध्ययन एवं शिक्षण गुरुकुल पद्धति का आदर्श था।

उपनिषद् में एक संदर्भ है। गुरु शिष्य को दीक्षान्त सन्देश देते हुए कहते हैं—**"सत्यं वद! धर्मं चर! स्वाध्यायान्माप्रमदः...यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासित्वयानि, नो इतराणि"** शिष्य अपना विद्याध्ययन पूर्ण करके जब गुरु से विदा माँगता है, तब गुरु दीक्षान्त सन्देश देते हैं कि—"तुम सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, जो अध्ययन किया है, उसके स्वाध्याय-चिन्तन में कभी लापरवाह मत होना और जीवन में कर्तव्य करते हुए जब कभी कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न तुम्हारे सामने आये, सदाचार और अनाचार की शंका उपस्थित हो, तो जो हमने सद् आचरण किये हैं, जो हमारा सुचरित्र है, उसी के अनुसार तुम आचरण करते जाना, पर अपने कर्तव्य से कभी मत भटकना।" आप देखेंगे कि इस दीक्षान्त सन्देश में गुरु शिष्य के प्रति हृदय का कितना स्नेह उँडेल रहा है, उसकी वाणी में अन्तरात्मा का कितना सहज वात्सल्य छलक रहा है, उच्च प्रेरणा और महान् शुभ-संकल्पों का कितना बड़ा संकेत है, इस सन्देश में। गुरु शिष्य में अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है, इसलिए वह उसे सम्बोधित करता है कि—तुम हमारे सदाचरण के अनुसार अपने आचार का निश्चय करना। शिष्य का जीवन पवित्र बनाने के लिए गुरु स्वयं अपना जीवन पवित्र रखते हैं और उसे एक आदर्श की तरह शिष्य के समक्ष उपस्थित करते हैं। जीवन की इस निश्छलता और पवित्रता के अमिट संस्कार जिन शिष्यों के जीवन में उद्भासित होते हैं, वे शिष्य गुरुकुल से निकलकर गृहस्थ जीवन में आते हैं, तो एक सच्चे गृहस्थ, सुयोग्य नागरिक और राष्ट्रीय पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। उनका जीवन समाज और राष्ट्र का एक आदर्श जीवन होता है। प्राचीन गुरुकुल के सम्बन्ध में यदि एक ही बात हम कहें, तो वह यह है कि गुरुकुल हमारे विद्या और ज्ञान के ही केन्द्र नहीं थे, बल्कि सच्चे मानव और सुयोग्य नागरिकों का निर्माण करने वाले केन्द्र थे।

शिक्षा का माध्यम :

समय और स्थितियों ने आज गुरुकुल की पावन परम्परा को छिन्न-भिन्न कर दिया। अध्ययन-अध्यापन की पद्धति बदलती गई, विषय बदलते गए और आज तो यह स्थिति है कि अध्ययन केन्द्र एक मेले की, समारोह की संज्ञा ले रहे हैं। और गुरु अपने आपको नौकर समझने लग गए हैं। शिक्षणकेन्द्र विद्यार्थियों के ऐसे जमघट बन गए हैं, जहाँ वे कुछ समय के लिए आते हैं, साथी-दोस्तों से दो-चार गपशप कर लेते हैं, रजिस्टर में उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति लिखवा देते हैं, मन हुआ तो किसी अध्यापक का थोड़ा-सा भाषण सुन लेते हैं, नहीं तो किताबें बन्द करके इधर-उधर मटरगस्ती करने चले जाते हैं।

अध्यापक भी आज अपना उत्तरदायित्व सीमित कर रहे हैं, स्कूल-कालेज में दो-चार घण्टा के अतिरिक्त विद्यार्थी के जीवन से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। बात यह है कि इस सम्पर्क का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व भी नहीं है। अध्यापकता को वे एक नौकरी समझते हैं, और उसके अतिरिक्त समय में विद्यार्थी से सम्पर्क रखना, एक झंझट मानते हैं।

आज की शिक्षा-पद्धति में जो दोष और बुराईयाँ आ गई हैं, उनमें पहला कारण यह है कि शिक्षा का उद्देश्य गलत दिशा में जा रहा है। शिक्षा के साथ सेवा और श्रम की भावना नहीं जग रही है। इसका कुछ उत्तरदायित्व तो है माता-पिताओं पर और कुछ है शिक्षण संस्थाओं पर। दूसरा कारण, शिक्षण केन्द्रों की गलत व्यवस्था है। वहाँ विद्यार्थी और अध्यापक के बीच कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। आत्मीयता का भाव तो दूर रहा, एक-दूसरे का परिचय तक नहीं हो पाता। अलगाव की एक बहुत बड़ी खाई दोनों के बीच पड़ी हुई है। दोनों में अपने-अपने उत्तरदायित्वों के प्रति उदासीनता और उपेक्षा की भावना बल पकड़ रही है, श्रद्धा और स्नेह का कोई संचार वहाँ नहीं हो पा रहा है।

शिक्षा पद्धति का तीसरा कारण कुछ गम्भीर है, और वह है विदेशी भाषा में शिक्षण। हर एक देश की अपनी संस्कृति होती है, अपनी भाषा होती है। जो विचार और संस्कार अपनी भाषा के माध्यम से हमारे मन में उतर सकते हैं, वे एक विदेशी भाषा के सहारे कभी भी नहीं उतर सकते। जो भाव और श्रद्धा 'भगवान्' शब्द के उच्चारण के साथ हमारे हृदय में जागृत होती है, वह 'गॉड' शब्द के सौ बार उच्चारण से भी नहीं हो सकती—यह एक अनुभूत सत्य है। दूसरी बात मातृभाषा के माध्यम से विद्यार्थी जितना विस्तृत ज्ञान सहजतया प्राप्त कर सकता है, उतना विदेशी भाषा के माध्यम से कभी भी नहीं कर सकता। अन्य भाषा सीख कर उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई और श्रम उठाना पड़ता है और इस कारण विद्यार्थी का ज्ञान-क्षेत्र सीमित तथा संकुचित रह जाता है। संसार के प्रायः समस्त उन्नतिशील एवं स्वतन्त्र राष्ट्रों में शिक्षा का माध्यम वहाँ की मातृभाषा या फिर राष्ट्रीय भाषा ही है, परन्तु भारत आज स्वतन्त्र होकर भी विदेशी भाषा में अपनी सन्तानों को शिक्षित कर रहा है, यह जहाँ उपहासास्पद बात है, वहाँ विचारणीय भी है। अपनी सभ्यता, संस्कृति और जीवन के सम्यक्-निर्माण के लिए अपनी मातृ-भाषा या राष्ट्र-भाषा में शिक्षण होना बहुत ही आवश्यक है।

मैं समझता हूँ, आज हमारी शिक्षा, हमारे शिक्षार्थी और शिक्षक तीनों ही राष्ट्र के सामने एक समस्या बनकर खड़े हो रहे हैं। इस दिनोंदिन उलझती हुई समस्या का हल हमें खोजना है। देश को यदि अपनी संस्कृति और सभ्यता से अनुप्राणित रखना है, तो हमें इन तीनों बातों के सन्दर्भ में आज की समस्या को देखना चाहिए और उसका यथोचित हल खोजना चाहिए। शिक्षा जो जीवन का पवित्र और महान् आदर्श है, उसे अपने पवित्रता के धरातल पर स्थिर रखने के लिए हमें इस विषय को गहराई से सोचना चाहिए। जीवन के द्वारा, जीवन के लिए, जीवन की शिक्षा ही वस्तुतः शिक्षा का आदर्श स्वरूप है। इसीसे निकली हुई शिक्षा से, हम जीवन के सर्वांगीण—शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास की आशा कर सकते हैं। अतः शिक्षा को जीवन की समस्या नहीं, अपितु समाधान बनना चाहिए। और वह समाधान तभी बनेगी, जब उसमें साँस्कृतिक-चेतना जागृत होगी।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org